

Prof. Shashi Sharma, Principal
Professor, Department of Political Science
e-mail: prof.shashisharma@gmail.com

Political Sociology, PAPER VII

Course Content-12: 'Relationship between Politics and Society in India'

भारत में जातियों का राजनीतिकरण(Politicization of Castes in India)

'राजनीति में जातिवाद' को प्रो. कोठारी द्वारा 'जातियों के राजनीतिकरण' की संज्ञा दी गयी है। इनकी अभिव्यक्ति के अनुसार, जाति और आधुनिक संस्थाओं के मध्य चलने वाली वास्तविक अन्योन्यक्रियाएं अनिवार्य रूप से चयनात्मक थीं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जातियों के राजनीतिकरण के प्रसंग में जाति संरचना के कुछ पक्षों का अन्य पक्षों की तुलना में अपेक्षाकृत विशेष अतिक्रमण हुआ। इस प्रक्रिया में सबसे पहले जाति प्रथा की सत्तात्मक संरचना को आधुनिकीकरण की मुख्य धारा में खींचा गया। सत्ता संरचना और आर्थिक लाभों का परस्पर गहरा संबंध होता है, इसलिए राजनीतिकरण प्रक्रिया का दूसरा महत्वपूर्ण पक्ष आर्थिक लाभों के वितरण से संबद्ध है। इस प्रक्रिया का तीसरा महत्वपूर्ण पहलू जातिगत चेतना-बोध से प्रासंगिक है। जाति प्रथा से संबंधित ये सभी अवयव परिवर्तन-प्रक्रियाक्रम में गंभीर रूप से प्रभावित हुआ। भारत में जातियों के राजनीतिकरण और आधुनिक संसदीय राजनीति की अन्योन्यक्रिया से समाज परिवर्तन की प्रक्रिया को नया आयाम मिला।

प्रो. कोठारी द्वारा जातियों के राजनीतिकरण प्रसंग पर विशेष चर्चा प्रस्तुत करते हुए इस प्रक्रिया की प्रस्तुति तीन चरणों में बाँटकर की गयी है :

1. **शक्ति प्रभाव की प्रतिद्वन्द्विता**—भारत के पारम्परिक समाज में शक्ति, प्रतिष्ठा एवं प्रभाव अर्जित करने के लिए स्पर्धा का दायरा पहले ऊँची जातियों तक सीमित था। बदलते समय के साथ जो जातियाँ ऊँची शिक्षा प्राप्त करके समाज में आगे बढ़ने का प्रयास करती रहीं, वे धीरे-धीरे प्रतिष्ठित जातियों के समकक्ष स्थान को प्राप्त करने में सफल होती गयीं। इन जातियों द्वारा अधिकार और पद प्राप्त करने की लालसा ने इन्हें राजनीतिक संगठनों का निर्माण करने के लिए अभिप्रेरित किया, नतीजतन ऊँची जातियों से इनकी स्पर्धा धीरे-धीरे बढ़ती गयी। उदाहरणार्थ—महाराष्ट्र और तमिलनाडु में ब्राह्मण अंब्राह्मण, गुजरात में बनियाँ, ब्राह्मण, पाटीदार, राजस्थान में राजपूत—जाट, केरल में इजवा एवं नायर, आन्ध्र प्रदेश में काम्मा—रेड्डी के बीच चलने वाली स्पर्धा को स्पष्टतः देखा जा सकता है।
2. **जाति के अन्दर प्रतिद्वन्द्वी गुट**—यह जातियों के राजनीतिकरण की वह अवस्था है जिसमें विभिन्न जातियों के बीच पायी जाने वाली स्पर्धा के साथ-साथ जातियों के अन्दर भी प्रतिस्पर्धी गुटबन्दी के अस्तित्व की मौजूदगी उपस्थित हो जाती है। इन गुटों के नेता अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए उन जातियों की भी मदद लेते हैं जो उनकी जातीय सीमा से बाहर हैं। चुनाव में निम्न जातियों का समर्थन लेकर अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए ऊँची जातियों के गुटों का नेतृत्व छोटी जातियों के गुटों के नेता को राजनीतिक पद और आर्थिक लाभ का प्रलोभन देकर उनकी जाति का मत प्राप्त करने की कोशिश करते हैं। लेकिन, जहाँ इस प्रकार पद या प्रलोभन देकर समर्थन प्राप्त करना संभव नहीं होता है, वहाँ समाज की विभिन्न जातियों—उपजातियों के बीच आपसी स्पर्धा उत्पन्न कराके उनका संगठन बनाने और उन संगठनों के मध्यस्थों द्वारा समझौता कराने की कोशिश की जाती है ताकि चुनाव में अपनी स्थिति मजबूत की जा सके। इस प्रक्रिया की वजह से इस चरण में ऊँची जातियों की अपेक्षा व्यवसायी वर्ग और कृषक जाति के नेताओं व कार्यकर्ताओं की संख्या में वृद्धि हुई है।
3. **जाति बंधन का दुर्बल होना और राजनीति का व्यापक आयाम**—यह राजनीतिकरण का तीसरा चरण है जिसमें एक तरफ राजनीतिक मूल्यों की महत्ता संस्थापित हुई, वहीं दूसरी ओर जातियों के बीच आपसी दृष्टिकोण में काफी फर्क

आया। जाति-पांति के आधार पर भेदभाव छुआछूत आदि की भावना में काफी कमी आई, और जाति के प्रति कट्टरता भी पहले की अपेक्षा थोड़ी कम हुई। इसकी मूल वजह सभी जातियों में शिक्षा का विकास, उच्च शिक्षा द्वारा उच्च पदों की प्राप्ति, सामाजिक स्तरीकरण के मानदण्डों में परिवर्तन, पढ़े-लिखे समाज पर शहरीकरण की मानसिकता का प्रभाव आदि हैं। यह स्थिति शहरीकरण की वजह से समाज में आये परिवर्तन का द्योतक है। आर्थिक उन्नति और भौतिक संसाधनों की प्राप्ति हेतु लोग शिक्षा, नौकरी, व्यवसाय एवं सभी प्रकार के काम-धन्धे के लिए शहर की ओर पलायन करने लगे। इस क्रम में गाँव की परम्परागत संस्कृति उनसे छूटती गयी। शहरों में बसने की वजह से आधुनिकता की संस्कृति का प्रभाव उन पर बढ़ने लगा। इस संक्रमण (Transition) की वजह से जाति की भावना ढीली होती गयी और सामाजिक व्यवहार की सीमा भी अपनी जाति तक सीमित नहीं रही। नई शिक्षा, नया सामाजिक परिवेश, नये सामाजिक व्यवहार में व्यापकता आने की वजह से राजनीति का दायरा भी व्यापक होता गया जिसमें जातिगत कट्टरता का पारम्परिक स्वरूप काफी ढीला हुआ। नये सामाजिक व्यवहार और नई प्रवृत्तियों में व्यापक विस्तार की वजह से राजनीतिक संस्थाओं का स्वरूप भी व्यापक होता गया। नागरिकों की राजनीतिक अभिवृत्तियों में नई निष्ठाओं, विश्वासों एवं प्रतिबद्धताओं का जन्म हुआ और पारम्परिक निष्ठाओं का स्वरूप काफी कमजोर हुआ। इन सभी परिप्रेक्ष्यों में जाति की भावना नई शकल में ढलने लगी। राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में जाति अब सिर्फ राजनीतिक समर्थन या शक्ति प्राप्त करने एवं प्रदर्शन करने का आधार नहीं रही, बल्कि राजनीति में इसका आधिकारिक इस्तेमाल किया जा रहा है।

प्रो. रजनी कोठारी द्वारा अभिव्यक्त राजनीति और जाति की अन्योन्यक्रिया से संबंधित कुछ सारगर्भित बिन्दुओं पर यहां प्रकाश डाला जा रहा है :

- स्वतंत्र भारत की लोकतांत्रिक प्रक्रिया में सहभागी बनने की वजह से आरंभिक दौर में पहले तो जाति प्रथा पर अलगाव की प्रवृत्ति देखी गयी, लेकिन कुछ समय पश्चात् जाति का राजनीति के साथ सामंजस्य हुआ और जाति व्यवस्था द्वारा राजनीतिक संगठनों को सहायता दी जाने लगी।
- राजनीति के वर्तमान स्वरूप में राजनीतिक सहभागी बनने से नागरिकों की अभिवृत्ति में परिवर्तन आया और वे इस सच्चाई को समझ गये कि समाज के विकास के लिए सिर्फ जाति और सम्प्रदाय के साथ जुड़े रहना ही काफी नहीं है।
- बड़ी जातियों में एकता का अभाव पाया जाता है जिसकी वजह से जाति के अन्दर गुटबन्दी और गुटों के नेताओं का आविर्भाव होता है।
- सामाजिक ढाँचे में छोटी संख्याबल वाली जातियां अपने दम पर अकेले चुनाव जीतने का माद्दा नहीं रखती हैं, लेकिन वे किसी अन्य जाति को समर्थन देकर जिताने का सामर्थ्य रखती हैं। यदि कोई उम्मीदवार अपनी जीत के लिए समर्थन जुटाने का प्रयास करता है तो दूसरी जातियां उसके विरुद्ध हो जाती हैं, इसलिए चुनावी राजनीति में सफल होने के लिए कई जातियों को मिलाकर गुट बनाना पड़ता है।
- सक्रिय राजनीति में भागीदारी की वजह से जातीय भावना ढीली हुई है और अनेक नई निष्ठाओं का आविर्भाव हुआ है।
- देश के वर्तमान राजनीतिक परिदृश्य में जातिवाद एवं साम्प्रदायवाद का मुद्दा काफी प्रबल रूप में चुनावी राजनीति को प्रभावित कर रहा है। लोगों का ऐसा मानना है कि शिक्षा के प्रसार, शहरीकरण, औद्योगीकरण व आधुनिकीकरण की वजह से समाज में जातिवादी प्रवृत्ति थोड़ी ढीली हुई है, लेकिन चुनावी राजनीति की प्रक्रिया और परिणाम समाज के सदस्यों में जातिवाद की भावना को मजबूत करता है। इस प्रवृत्ति से सामाजिक समरसता में कमी आती है और नतीजतन लोकतंत्र का धर्मनिरपेक्ष ढाँचा खतरे में पड़ सकता है। इस प्रसंग पर प्रो. कोठारी का कहना है कि वस्तुतः, जाति और राजनीति की अन्योन्यक्रिया का परिणाम वह नहीं होता है जो लोग सोचते हैं। इनका मानना है कि राजनीति पर जातियों के हावी होने से ही जातियों का राजनीतिकरण हो जाता है। इस रूप में राजनीति में जाति की प्रधानता होने की वजह से जातियों को एक नया आयाम मिला है। जातियां अपने पारम्परिक रूप से निकल कर नये रूप ढल रही हैं।
- आधुनिक नेता चाहे अपने आपको जितना लौकिक रूप में प्रस्तुत करें लेकिन यह सत्य है कि इनकी राजनीतिक गतिविधियों की वजह से ही समाज के उन वर्गों-समूहों के हाथ में राजनीतिक शक्ति पहुंची जो अब तक उस शक्ति के प्रयोग से वंचित थे।
- व्यवस्था में जाति आधारित कई संगठनों व संघों का अस्तित्व मौजूद है, जिनके बैनर तले महासम्मेलन, प्रदर्शन, रैली आदि कार्यक्रमों को अंजाम दिया जाता है। इनमें प्रमुख जातीय संगठनों में अखिल भारतीय क्षत्रिय महासंघ,

अखिल भारतीय ब्रह्मर्षि महासंघ, अखिल भारतीय यादव महासंघ, अखिल भारतीय कुशवाहा महासंघ, अखिल भारतीय कायस्थ महासंघ, अखिल भारतीय वैश्य महासंघ, अखिल भारतीय दलित सेना आदि हैं। अखिल भारतीय कुर्मी महासम्मेलन का आयोजन 2004 में नीतीश कुमार द्वारा बिहार का मुख्यमंत्री बनने के पूर्व कराया गया था, जो जदयू के वोट बैंक निर्माण और मतप्रबंधन का महती माध्यम बना जिसके परिणाम के रूप में बिहार में 2005 के विधानसभा चुनाव में जदयू-भाजपा सत्तारूढ़ हुई।

- जातियों व सम्प्रदायों की राजनीति में व्यापक भागीदारी से सामूहिक स्तर पर राष्ट्रीय भावना का विकास होता है और अलगाववादी प्रवृत्ति की जगह राजनीतिक एकीकरण की प्रवृत्ति विकसित होती है।

भारत में जातियों के राजनीतिकरण का लौकिक पहलू (Secular Aspects of Politicization of Castes in India)

जातियों के राजनीतिकरण के लौकिक पहलू का संबंध अनुसूचित जातियों, आदिवासियों और धार्मिक अल्पसंख्यकों विशेष रूप से मुसलमानों से जुड़ा है। राजनीतिकरण के सेकुलरीकरण के मुख्य पक्ष निम्नांकित हैं:

दलितों एवं आदिवासियों से जुड़े सवाल—दलित जिसे राष्ट्रपिता महात्मा गांधी द्वारा 'हरिजन' की उपाधि मिली, के राजनीतिकरण हेतु संवैधानिक प्रावधानों के तहत संसद-विधानसभाओं तथा शैक्षिक स्तर पर नामांकन एवं सरकारी नौकरियों में दिये जाने वाले आरक्षण की वजह से साठ के दशक तक इस जाति द्वारा सामाजिक-राजनीतिक स्तर पर काफी तरक्की अर्जित की गयी। संविधान की धारा 330-332 के अन्तर्गत संसद तथा राज्य की विधानसभाओं के निर्वाचन क्षेत्रों में आरक्षण तथा संविधान के अनुच्छेद 15(4) तथा 16(4) के तहत सरकारी नौकरियों और शिक्षण संस्थाओं में नामांकन हेतु दिये जाने वाले आरक्षण की सुविधा की वजह से संविधान द्वारा आरक्षित निर्वाचन क्षेत्रों के अतिरिक्त अन्य सीटों पर भी इन जातियों के राजनीतिक लेन-देन की ताकत में काफी वृद्धि हुई। इन जातियों के पुरोधाओं को राजनीतिक सौदेबाजी तथा राजनीतिक गठजोड़ों में तरजीह मिलना तथा ऊंची जाति के नेताओं द्वारा चुनाव में जीत के लिए इन जातियों का समर्थन प्राप्त करने की होड़ साठ-सत्तर के दशक की सक्रिय राजनीति में, इनकी राजनीतिक हैसियत से ज्यादा इन्हें महत्त्व प्रदान करने जैसी बात थी। संवैधानिक तथा राजनीतिक स्तर पर मिलने वाला लाभ सामाजिक स्तर पर इन जातियों के पिछड़ेपन की कमी की भरपाई कर रहा था। अपनी राजनीतिक हैसियत में बढ़ोतरी और समुन्नत सामाजिक जीवन जीने की जिजीविषा लिए इन दोनों जातियों द्वारा अपने हितवर्द्धन हेतु पृथक् संगठनों, महासंघों तथा जाति आधारित राजनीतिक दलों के निर्माण का प्रचलन आरंभ हुआ। संविधान द्वारा प्रदत्त राजनीतिक हैसियत की वजह से इन जातीय समूहों की जातिगत दावेदारियों के बावजूद सामाजिक स्तर पर अतिपिछड़ा होने के नाम पर उन पर जातिवादी होने का आरोप भी नहीं लगाया जा रहा था। इन दोनों जातियों को खुश करने के लिए इनका हितैषी होने का प्रमाण प्रस्तुत करने की होड़ सभी दलों में मच गयी। अपनी पार्टी को ज्यादा सेकुलर साबित करने के लिए धीरे-धीरे सभी राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय पार्टियों में संगठन के स्तर पर इनके लिए अलग प्रकोष्ठ का निर्माण किया गया। इस कार्य द्वारा सभी दलों में इन जातियों के राजनीतिक महत्त्व को जातिगत आधार पर आंका गया और उन्हें राजनीतिक तरजीह दी गयी। इन प्रयासों से जहां एक ओर व्यवस्था में इन जातियों की राजनीतिक मान्यता तथा राजनीति में इनकी विशिष्टता स्थापित हुई, वहीं दूसरी ओर संवैधानिक स्तर पर विशेष राजनीतिक-सामाजिक सुविधाओं के प्राप्तकर्ता होने की वजह से बड़े पैमाने पर इनका राजनीतिकरण हो गया और ये समसामयिक समाज के आधुनिक केन्द्रों से सीधे रूप में जुड़ गये।

अल्पसंख्यकों विशेष रूप में मुसलमानों से जुड़े सवाल—भारत में गैर हिन्दू धर्मावलम्बियों में मुसलमानों को छोड़कर अन्य धार्मिक अल्पसंख्यकों की संख्या बहुत कम है। केरल में कैथोलिक ईसाई की आबादी है और पंजाब में सिखों की आबादी है। स्वाधीनता संघर्ष के जमाने से ही अपने राष्ट्रवादी विचारधारा की वजह से कांग्रेस पार्टी राजनीति में मुसलमानों की अलग पहचान बनाने की समर्थक नहीं रही। पार्टी मुसलमानों के अलग राजनीतिक संगठन के निर्माण की भी समर्थक नहीं थी। मुस्लिम लीग द्वारा प्रवर्तित द्विराष्ट्र सिद्धान्त के विरुद्ध संघर्ष करके सभी समुदायों के प्रतिनिधित्व का दावा करते हुए कांग्रेस के नेतृत्व में जो राष्ट्रीय आन्दोलन चलाया गया, वह समाज के विभिन्न समुदायों के बीच लौकिक माहौल बनाने में बहुत कामयाब नहीं रहा। देश का विभाजन और पाकिस्तान निर्माण के पश्चात् मुसलमानों को अलग राजनीतिक पहचान दिये जाने के दावे को स्वाभाविक तौर पर संदेह की दृष्टि से देखा गया। स्वतंत्रताप्राप्ति के पश्चात् राजनीतिक पदों के लिए खुली राजनीतिक प्रतियोगिता के माहौल में भारतीय मुसलमान ये तय नहीं कर रहे थे कि उन्हें अपनी पहचान स्थापित करने के लिए राजनीतिक रूप से संगठित होना है या नहीं।

बदलते समय के साथ जब परिस्थिति थोड़ी सामान्य हुई, तब मुसलमानों के दो संगठनों का आविर्भाव हुआ:

प्रथम—जमाइत—उल—उलेमा, यह गैर राजनीतिक संगठन था जो मुस्लिम समाज की शैक्षिक और धार्मिक गतिविधियों की देखरेख करता था।

द्वितीय—इनका दूसरा संगठन जमात—ए—इस्लामी था, जिसके द्वारा राजनीतिक दावेदारी की मांग उठाई गयी और चुनाव में उम्मीदवार भी खड़ा किया गया।

लंबे अर्से तक राजनीतिक उपेक्षा की वजह से मुस्लिम नेताओं का स्वर तीखा होने लगा और यदा—कदा उनके नेताओं द्वारा गैर संवैधानिक भाषाओं का प्रयोग भी किया जाने लगा। जिन जगहों पर मुसलमानों को राजनीति की मुख्य धारा में शामिल किया गया वहां उनकी सोच में बदलाव आया। दृष्टान्तस्वरूप, एक राजनीतिक दल के रूप में केरल में मुस्लिम लीग का वजूद कायम रहा इसलिए देश के अन्य हिस्सों की अपेक्षा वहां इनका राजनीतिक नजरिया ज्यादा लौकिक दिखाई दिया। गठजोड़ की राजनीति में इनकी बढ़ती हुई राजनीतिक क्षमता और अहमियत भी इनके राजनीतिकरण का खास पहलू है। तीसरे—चौथे आम चुनावों की सक्रिय राजनीति में मुस्लिम संगठनों की सक्रियता काफी बढ़ी, और उसके बाद से लगातार सभी आम चुनावों में इनकी सहभागिता का स्तर बढ़ता गया जिससे इनके लिए लोकतांत्रिक राजनीतिक प्रक्रियाओं में सेकुलर भागीदारी की गुंजाइशों का रास्ता आसान हुआ।

मुसलमानों को खुली राजनीतिक प्रतियोगिता में भागीदारी के लिए दलितों एवं आदिवासियों की तरह संवैधानिक रूप से आरक्षित सीटों की सुविधा तो नहीं दी गयी है, लेकिन सभी राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय पार्टियां चुनाव के समय मुस्लिम मतदाताओं को अपने राजनीतिक पाले में खींचने के लिए न्यूनतम संख्या में मुस्लिम उम्मीदवारों को चुनाव मैदान में उतारती गयी इससे आम चुनाव के समय मुस्लिम समुदाय अन्य समुदायों के साथ गठजोड़ बनाते गये और मतदान क्रिया में राजनीतिक सहभागी बनते गये। हालांकि निर्वाचन क्षेत्रों का चुनावी अध्ययन—विश्लेषण ये बताता है कि चुनावी सहभागिता के मामले में उनकी राजनीतिक हिचक अभी भी बाकी है। मुसलिमतदाताओं की ओर से अपने लिए राजनीतिक उपेक्षा की काफी शिकायतें मुख्य रूप से चुनाव के समय सामने आतीरही है। सामाजिक व आर्थिक स्तर पर मुसलमान मतदाता दुविधा, अविश्वास और द्वन्द्व से ग्रसित हैं। लेकिन, मुस्लिम समुदाय चुनावी राजनीति में अपने संख्या बल की हैसियत से पूरी तरह वाकिफ हैं, इसलिए चुनावी माहौल में राजनीतिक दलों द्वारा काफी मान—मनोबल के बाद सोच समझ कर ही ये मतदान कार्य में सहभागी बनते हैं। इस प्रकार, आजाद भारत में मुस्लिम समुदाय और राजनीति की अन्योन्यक्रिया की वजह से मुसलमानों का काफी हद तक राजनीतिकरण हो चुका है।

भारत में जातियों के राजनीतिकरण की विशेषताएं (Characteristics of Caste's Politicization in India)

भारतीय राजनीति में जाति की महती भूमि से सम्बद्ध उभरती विशेषताओं को निम्नांकित संदर्भों में देखा जा सकता है :

1. प्रसिद्ध समाजशास्त्री डॉ. जी.एस. घुरिये (G.S. Ghurye) ने अपनी रचना 'Caste, Class and Occupation' में जाति की जिन विशेषताओं को रेखांकित किया है उनमें समाज के खण्डात्मक विभाजन (Segmental Division of Society) की चर्चा की है। घुरिये द्वारा व्यक्त खण्डात्मक विभाजन का तात्पर्य है एक जाति के सदस्यों की सामुदायिक भावना सम्पूर्ण समुदाय के प्रति न होकर केवल अपनी जाति तक सीमित होती है। व्यक्ति की निष्ठा श्रद्धा विशेष रूप से अपनी जाति के प्रति होती है, जबकि जाति की राजनीतिकरण की प्रक्रिया यह स्पष्ट करती है कि जाति व्यक्ति को जोड़ने वाली कड़ी है। जातियों के राजनीतिकरण की वजह से जातीय संघों—संगठनों की राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा में काफी वृद्धि हुई है। इतिहास गवाह है कि जातिवाद को समाप्त करने वाले आन्दोलनों के परिणामस्वरूप नये रूप में जातियां ज्यादा मुखरित हुई हैं; जैसे—लिंगायत, सिख आन्दोलन, कबीरपंथी खुद ही नई जातियां बन गईं।
2. जाति के राजनीतिकरण की दृष्टि से गांव या पंचायत की प्रधान जाति केवल राजनीतिक—आर्थिक दृष्टि से मजबूत नहीं होती है, अपितु संख्या बल के आधार पर भी स्थानीय इलाके में इस जाति का प्रभुत्व होता है। अपनी संख्या बल के आधार पर यह जाति अपने गांव तथा स्थानीय इकाइयों (पंचायतों) की राजनीति में सक्रिय भूमिका निभाती है। यदि किसी राज्य में किसी जाति विशेष की प्रधानता होती है तो वह जाति राजनीति के स्वरूप—निर्धारण में एक महत्त्वपूर्ण प्रभावक तत्त्व की भूमिका निभाता है। जातियों के राजनीतिकरण के प्रसंग में ऐसी प्रधान जाति की भूमिका का तात्त्विक विश्लेषण राजनीतिक गतिविधियों से जुड़े शोध के संबंध में करना जरूरी है।
3. शिक्षा का प्रसार, औद्योगीकरण, शहरीकरण एवं आधुनिकीकरण की वजह से जातियों का अस्तित्व समाप्त नहीं हुआ, बल्कि उनकी एकीकरण की प्रवृत्ति में इजाफा हुआ है साथ ही उनकी राजनीतिक भूमिकाओं में भी काफी बढ़ोतरी हुई है।
4. चुनावी राजनीति के दरम्यान जातीय संघों—संगठनों द्वारा प्रस्ताव पारित करके किसी विशेष राजनीतिक दल को समर्थन देने की घोषणा की जाती है, ऐसा करके जाति संघ अपने हितवर्द्धन के लिए प्रयास करते हैं।

5. राष्ट्रीय राजनीति की अपेक्षा प्रान्तीय और स्थानीय स्तर पर जातियों की भूमिका ज्यादा मुखर और महत्वपूर्ण होती है।
6. जाति और राजनीति के बीच गतिशील-परिवर्तनशील संबंध होता है जिसका स्वरूप समय के साथ परिवर्तित होता रहता है और नये सिरे से गति प्राप्त करके नये रूप में ढलता रहता है।
7. ब्रिटिश हुकूमत के जमाने में ही जातीय समुदायों का रुझान राजनीति की तरफ दिखने लगा था। ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत में एक मजबूत प्रशासनिक व्यवस्था के ढाँचे की बुनियाद रखी गयी थी। प्रशासन का सबसे पहले ध्यान जनगणना कार्यालय की ओर गया जहां जातीय संघों व समुदायों द्वारा सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने के उद्देश्य से अपने संघों का नामकरण कराने की प्रक्रिया की शुरुआत हुई। पंजीकरण के पश्चात् विभिन्न जातीय संघों द्वारा प्रस्ताव पारित करके अपनी जाति के लोगों के हित संरक्षण हेतु सरकार पर दबाव बनाया जाने लगा। सक्रियता की वजह से कुछ जातीय संघों द्वारा शिक्षण संस्थानों और सरकारी नौकरियों में आरक्षण की मांग उठायी गयी। उदाहरणस्वरूप तमिलनाडु में वेनियर (Venniyar) जाति के नेता पदायची (Padayachi) द्वारा अपनी जाति प्रासंगिक मांगों के न माने जाने की वजह से सी. राजगोपालाचारी के मंत्रिमंडल में शामिल होने से मना किया गया और बाद में अपनी जाति की मांग स्वीकार किये जाने की वजह से वे कामराज मंत्रिमंडल में शामिल हुए। इस रूप में जाति संघ व्यवस्था में प्रभावी दबाव समूह की भूमिका निभाते हैं।
8. पिछले कुछ दशकों में जबसे गठबंधन की राजनीति का युग आरंभ हुआ है प्रान्तीय एवं केन्द्रीय राजनीति के स्तर पर जातीय संघों और राजनीतिक दलों के बीच होने वाले चुनावी तालमेल की वजह से जहां जातिगत संघों-समुदायों व महासंघों की भूमिका सक्रिय राजनीति में काफी मुखरित हुई है, वहीं राजनीतिक स्तर पर जातियों की भूमिका चुनाव दर चुनाव नये रूप में ढल रही है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में अवसरवादी राजनीति के बोलबाला की वजह से जातियों का चुनावी समीकरण **हमेशा** बनता बिगड़ता रहता है इससे जातियों के राजनीतिकरण की प्रक्रिया को नया रूप और नयी गति मिली है।

भारतीय राजनीति में जातियों की भूमिका (Role of Castes in Indian Politics)

भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका के संबंध में **श्री जय प्रकाश नारायण का** कहना था कि "जाति ही भारत का सबसे महत्वपूर्ण दल है।" जाति व्यवस्था भारतीय समाज की रीढ़ है। भारत में जाति के व्यापक परिप्रेक्ष्य पर रोशनी डालते हुए **डॉ. मजूमदार** लिखते हैं कि जाति व्यवस्था भारत में अनुपम है। सामान्य तौर पर भारत जातियों एवं समुदायों का पारम्परिक स्थल माना जाता है। ऐसा कहा जाता है कि यहां की हवा में भी जाति घुली हुई है, यहां तक कि मुसलमान और ईसाई भी इससे अछूते नहीं हैं। यहां के सामाजिक ढाँचे में जातियों की अधिकता और उनके व्यापक आधार को देखते हुए **हट्टन** ने लिखा है कि "भारत में जाति व्यवस्था के सम्यक् अध्ययन के लिए विशेषज्ञों की एक सेना की आवश्यकता है।" **डॉ. सक्सेना** का ऐसा मानना है कि "जाति हिन्दू सामाजिक संरचना का एक मुख्य आधार रहा है, जिससे हिन्दुओं का सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन प्रभावित होता रहा है। हिन्दुओं के सामाजिक जीवन के किसी भी पक्ष का अध्ययन जाति विश्लेषण के बिना अधूरा है।"

जाति व्यवस्था की महत्ता से प्रासंगिक ऊपर विवेचित सभी उक्तियों के आलोक में इस तथ्य का स्पष्टीकरण होता है कि जाति प्रथा के तात्त्विक अध्ययन के बिना भारतीय मतदाताओं के राजनीतिक व्यवहार तथा मतदान व्यवहार का तत्त्वतः अध्ययन करना संभव नहीं है। इन तथ्यों के मद्देनजर भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका के विश्लेषणपरक अध्ययन की प्रस्तुति यहां की जा रही है जो अति आवश्यक है।

स्वतंत्र भारत की संसदीय राजनीति में लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं को अमलीजामा पहनाने के लिए चुनाव आयोग की देखरेख में चुनावी राजनीति का श्रीगणेश 25 अक्टूबर, 1951 को हुआ। संवैधानिक प्रावधानों के अनुरूप पहली बार स्वतंत्र देश के मतदाताओं ने वयस्क मताधिकार का प्रयोग करके अपने प्रतिनिधियों का चुनाव किया, साथ ही स्वतंत्र नागरिक के रूप में राजनीतिक सहभागिता के दायित्व का निर्वहन भी किया। आम चुनाव की राजनीतिक प्रक्रिया आरंभ होते ही व्यवस्था में मौजूद जातीय संस्थाएं यकायक अत्यधिक सक्रिय और महत्वपूर्ण हो गयीं, क्योंकि जातिगत संस्थाओं की सभी इकाइयों में संख्या बल के अनुरूप मतों का समुच्चय था और संसदीय लोकतंत्र में राजनीतिक सत्ता उपार्जित (Achieve) करने के लिए भारी संख्या में एक एक इकाई के अन्तर्गत एकत्रित ये मत अत्यन्त मूल्यवान् थे। धीरे-धीरे जातियों में राजनीतिक चेतना जागृत होती गयी। मताचरण में आधारतत्त्व की भूमिका निभाने की वजह से जातियों का शनैः-शनैः राजनीतिकरण होता गया। जातियां राजनीतिक चेतना और अपनी आबादी के बलबूते पर सत्ता-निर्माण एवं सत्ता-प्राप्ति हेतु आधारतत्त्व और आधार माध्यम की भूमिका निभाने लगीं। भारतीय राजनीति में जाति की उल्लेखनीय भूमिका को निम्नांकित संदर्भों में देखा जा सकता है।

1. **निर्वाचन क्षेत्रों के निर्माण एवं सीमांकन में जाति की भूमिका**—भारत में नवनिर्मित संवैधानिक प्रावधानों के तहत केन्द्र एवं राज्य स्तर पर विधायिका के गठन के लिए जो उपबंध प्रस्तुत किये गये, उसमें निर्वाचन क्षेत्रों के निर्माण एवं सीमांकन में जाति व्यवस्था के महत्त्व को आरक्षण के माध्यम से रेखांकित किया गया। लोकसभा एवं विधानसभाओं के निर्वाचन क्षेत्रों के सीमांकन में उम्मीदवारों के चयन एवं जीत के मद्देनजर जातितत्त्व को प्राथमिक स्तर पर महत्त्व दिया गया। इस महत्त्व को ध्यान में रखते हुए **संविधान की धारा 330** में लोकसभा में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए सीटों के आरक्षण का प्रावधान है। **धारा 331** में लोकसभा में आंग्ल भारतीय समुदाय को प्रतिनिधित्व देने की बात कही गयी है। संविधान की **धारा 332** राज्यों की विधानसभाओं में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए सीटों के आरक्षण का स्पष्टीकरण करता है और **धारा 333** राज्यों की विधानसभाओं में आंग्ल भारतीय समुदाय को प्रतिनिधित्व देने से संबद्ध है। ये समस्त संवैधानिक उपबंध (Provision) नवस्वतंत्र भारत की लोकतांत्रिक राजनीतिक प्रक्रिया में जाति के महत्त्व को दर्शाता है। इन उपबंधों को संविधान में प्रमुखता से स्थान देने का तात्पर्य समाज के पिछड़े पददलित वर्ग (Downtrodden Class) को राजनीतिक प्रक्रिया की मुख्यधारा में शामिल करना था। **पैतालिसर्वे संविधान संशोधन अधिनियम 1980** द्वारा संसद् एवं विधानसभाओं में इनको दिये जाने वाले आरक्षण की अवधि को 10 वर्ष बढ़ाया गया। **62वें संविधान संशोधन अधिनियम 1989** द्वारा पुनः इस दिये जाने वाले आरक्षण की अवधि को आगे 10 वर्ष के लिए बढ़ाया गया। **79वें संविधान संशोधन अधिनियम 1999** द्वारा केन्द्र सरकार अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों को लोकसभा एवं राज्यों की विधान सभाओं में दी जाने वाली सीटों के आरक्षण की अवधि को 10 वर्ष और बढ़ाकर 2010 तक कर दिया गया है। हालांकि **संविधान के 334 अनुच्छेद** में यह प्रावधान है कि अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों की सीटों के आरक्षण तथा लोकसभा एवं विधानसभाओं में आंग्ल-भारतीय समुदाय के प्रतिनिधित्व से संबंधित व्यवस्था संविधान लागू होने के 50 वर्षों के बाद समाप्त हो जायेगी। आजादी के बाद विगत पैंसठ वर्षों में अनुसूचित जातियों और जनजातियों द्वारा पर्याप्त प्रगति की गयी है, लेकिन चुनावी राजनीति में जाति व्यवस्था की प्रधानता और जातीय मतों को अपने पक्ष में करने की होड़ की वजह से कोई भी राजनीतिक दल वोट की राजनीति और मत-प्रबंधन को ध्यान में रखते हुए आगे भी इस प्रावधान को समाप्त करने की हिम्मत नहीं दिखायेगा। निर्वाचन क्षेत्रों के गठन पर जाति का इतना ज्यादा दबाव है कि आज भी **लोकसभा की 543 सीटों में से सामान्य कोटे में सिर्फ 423 सीटें हैं; शेष में 79 अनुसूचित जाति के लिए और 41 अनुसूचित जनजाति के लिए आरक्षित है।** जातिगत आरक्षण का यही प्रतिशत राज्य की विधानसभाओं पर भी लागू है।
2. **राजनीतिक दलों द्वारा प्रत्याशियों के चयन एवं मतदान व्यवहार में जाति की भूमिका**—भारत के सभी राजनीतिक दल चुनाव में अपने उम्मीदवारों के चयन के समय जाति को मौलिक आधार तत्त्व मानते हैं। निर्वाचन क्षेत्र में जिस जाति के मतदाताओं की बहुलता होती है अपनी पार्टी की जीत सुनिश्चित कराने के लिए उसी जाति का उम्मीदवार खड़ा किया जाता है। यहां तक कि चुनावी तालमेल भी जाति आधारित ही होता है तथा दलों में आपसी सीटों का बँटवारा भी जाति आधारित होता है और इस परिप्रेक्ष्य में जातिगत मतदाताओं की संख्या बल के आधार गठबंधन के तहत उम्मीदवार खड़ा किया जाता है। इस प्रसंग का सबसे खास पहलू यह है कि मतदाताओं को भी यह पता होता है कि किन-किन जातियों के बीच चुनावी तालमेल हुआ है और विजातीय उम्मीदवार होने पर भी मतदाता राजनीतिक गठजोड़ (Political Alliance) का ध्यान रखते हुए गठबंधन के तहत खड़े उम्मीदवार के पक्ष में मतदान करते हैं। जाति आधारित गठजोड़ के बल पर कांग्रेस चार दशक तक सत्ता में रही और जातीय मैत्री में दरार पड़ जाने के कारण एक-एक करके सभी राज्यों में कांग्रेस का जनाधार खिसकता गया। जातीय तत्त्वों की प्रमुखता की वजह से राजनीति में क्षेत्रीय नेताओं का कद ऊँचा हुआ और मतदाता में मौजूद प्रबल जातीयता की भावना की वजह से आज देश में केन्द्र एवं राज्य स्तर पर गठबंधन की राजनीति का युग आकर ठहर गया है। आज भारतीय मतदाताओं में साठ से सत्तर प्रतिशत मतदाताओं के मतदान व्यवहार का एकमात्र आधार जाति है।
3. **राजनीतिक निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करने में जाति की भूमिका**—राजनीतिक स्तर पर जातियां अपने संघों व संगठनों की छत्रछाया में संगठित होकर राजनीतिक-प्रशासनिक निर्णय-निर्माण एवं नीति-निर्धारण प्रक्रिया को गंभीर रूप से प्रभावित करने का माद्दा रखती हैं। दृष्टान्तस्वरूप, **संविधान के अनुच्छेद 334** में अनुसूचित जाति एवं जनजाति के लिए 40 वर्ष तक ही, लोकसभा एवं विधानसभाओं में सीटें आरक्षित करने का प्रावधान था, लेकिन इन जातियों द्वारा संगठित होकर सरकार पर दबाव बनाया गया, नतीजतन संवैधानिक संशोधनों द्वारा इस अवधि को 2010 तक बढ़ाया गया है। इसी प्रकार आये दिन जातीय संगठनों द्वारा धरना, प्रदर्शन हड़ताल रैली तथा जातीय सम्मेलन करके किसी न किसी मुद्दे पर एकजुट होकर सरकार पर निर्णय-निर्धारण का दबाव बनाया जाता है तथा निर्धारित एवं

कार्यान्वित किये गये निर्णयों के पक्ष या विपक्ष में माहौल बनाकर सरकारी एवं प्रशासनिक नीतियों को प्रभावित करने में सक्रिय भूमिका निभायी जाती है।

4. **दबाव समूह के रूप में जातियों की भूमिका**—भारतीय सामाजिक—राजनीतिक ढाँचे में मौजूद विविध जातीय संगठन राजनीतिक महत्त्व की दृष्टि से संगठित एवं प्रभावशाली दबाव समूह की भूमिका निभाते हैं। जातीय दलबंदियां, जातीय विभेद तथा समाज के विभिन्न तबकों के बीच गठबंधन, पुनर्गठबंधन द्वारा अपने फायदे के लिए लगातार कोशिश करते रहना हमेशा से जाति प्रथा की प्रमुख मानसिकता रही है। दबाव समूह के रूप में जातियों की भूमिका को लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं के परिप्रेक्ष्य में देखा जाय तो यह तथ्य स्पष्ट होता है कि लोकतांत्रिक राजनीति मूलतः आवश्यकताओं की राजनीति है जिसकी वजह से पारम्परिक समाज और उसका नेतृत्व राजनीति से सीधे रूप में जुड़ा है। इसके दो नतीजे सामने आये—**पहला**, जाति प्रथा की वजह से नेतृत्व को राजनीतिक गोलबन्दी के लिए संरचनात्मक व विचारधारात्मक आधार मिला। इसकी वजह से राजनीति को सामाजिक स्तर पर विभिन्न तबकों का संगठित प्रतिनिधि संगठन प्राप्त हुआ और राजनीतिक—सामाजिक पहचान का वह पैमाना मिला जिसके जरिये संगठित रूप में राजनीतिक समर्थन को जमीन पर उतारा जा सकता था। **दूसरे** नतीजे के रूप में स्थानीय जातियों के बीच सत्ता की आकांक्षा को लेकर बनी सहमति को मान्यता देनी पड़ी और उनके बीच चलने वाली राजनीतिक स्पर्धा को परम्परागत शैली में संयोजित करना पड़ा। इस तरह जातियां व्यवस्था में राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक उद्देश्यों के लिए संगठित होकर प्रभावशाली दबाव समूह की भूमिका निभाने लगीं।
5. **प्रशासनिक स्तर पर जातिगत सुविधाएं**—लोकसभा और विधानसभा की सीटों में आरक्षण के साथ प्रशासनिक स्तर पर केन्द्र एवं राज्य की सरकारी नौकरियों में नियुक्ति—पदोन्नति के लिए संविधानगत जाति आधारित आरक्षण का प्रावधान है। यहां तक कि सभी सरकारी स्कूलों, कॉलेजों, मेडिकल, इन्जीनियरिंग कॉलेजों में नामांकन के लिए संवैधानिक आरक्षण का प्रावधान है। चरण सिंह मंत्रिमंडल द्वारा अल्प अवधि में ही एक अध्यादेश जारी करके केन्द्रीय स्तर पर सरकारी सेवा में आरक्षण लागू करने की घोषणा की गयी थी। सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों की परवाह न करते हुए यह निर्णय लिया गया था, लेकिन सरकार गिर जाने की वजह से इसे लागू नहीं किया जा सका। राष्ट्रीय मोर्चा सरकार द्वारा 1990 में मंडल कमीशन की रिपोर्ट लागू करके सरकारी नौकरियों में पिछड़ी जातियों के लिए 27 प्रतिशत आरक्षण का प्रावधान किया गया। लगभग सभी राज्यों में स्थानीय स्तर के प्रशासनिक अधिकारी जनहित एवं समाजहित के मामलों में निर्णय लेते समय एवं निर्णयों के क्रियान्वयन में स्थानीय स्तर पर मौजूद प्रमुख जातियों के नेताओं के प्रभाव से प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाते हैं। यानी कि स्थानीय स्तर के जातीय संगठनों और उनके नेताओं की अवहेलना करके प्रशासन का संचालन वे सहज ढंग से नहीं कर सकते हैं।
6. **राज्य की राजनीति में जातियों की भूमिका**—राजनीतिक समाजशास्त्र एवं समाजशास्त्र के विद्वानों का ऐसा मानना है कि केन्द्रीय राजनीति की अपेक्षाकृत राज्य स्तर की राजनीति में विभिन्न जातियों एवं जातीय संगठनों तथा उनके नेताओं की सक्रियता अधिक देखी जाती है और राजनीति पर समाज का प्रभाव भी विशेष रूप में दृष्टिगोचर होता है। बिहार, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु एवं केरल आदि राज्यों की राजनीति के गणितीय समीकरण को जातियों की भूमिकाओं के विश्लेषण के बगैर समझा ही नहीं जा सकता है। पृथक् राज्य के रूप में झारखण्ड के निर्माण की मांग एवं 2000 में राज्य के अस्तित्व—निर्माण का आधारतत्त्व जाति विशेष का मुद्दा ही था। बिहार की राजनीति में जहां अगडों—पिछड़ों की राजनीतिक स्पर्धा राजद सरकार के जमाने में चरम सीमा पर थी, वहीं महाराष्ट्र की राजनीति में मराठों, ब्राह्मणों एवं महारों के बीच की स्पर्धाएं मुखर रही हैं। गुजरात की राजनीति में क्षेत्रीय और पाटीदार, आन्ध्र प्रदेश की राजनीति में कम्मा और रेड्डी तथा केरल की राजनीति में मुख्यरूप से तीन जातियां—हिन्दू, क्रिश्चियन, और मुसलमान के बीच जातीय स्पर्धाएं सदैव मुखरित रही हैं। तत्त्वतः यदि देखा जाये तो इन राज्यों में राजनीतिक दल का नाम एवं पहचान तो है लेकिन वस्तुतः ये सभी जातीय संघों और संगठनों का प्रतिनिधित्व करते हैं। वर्तमान राजनीतिक परिदृश्य में बिहार और उत्तर प्रदेश की राजनीति गंभीर रूप से जातीय भूमिकाओं तथा जातिवादी भावनाओं के चपेट में है। पहले दौर में नेताओं में बिहार में कर्पूरी ठाकुर, उत्तर प्रदेश में चौधरी चरण सिंह, हरियाणा में देवीलाल को और दूसरे दौर में बिहार में लालू यादव, उत्तर प्रदेश में मुलायम सिंह यादव, कांशी राम, मायावती, आदि द्वारा जातीय बैसाखियों के सहारे जातीय वोट बैंक को काफी मजबूत किया गया है। वर्तमान दौर में बिहार की राजनीति लालू यादव, शरद यादव, नीतीश कुमार और रामबिलास पासवान के ईद-गिर्द घूम रही है। इस प्रकार, विभिन्न जातियों से संबद्ध राजनीतिक अभिजनों के उदय एवं नेतृत्व को मजबूत राजनीतिक शख्सियत के रूप में प्रतिष्ठापित करने में जाति की भूमिका काफी अहम होती है।
7. **मंत्रिमंडल निर्माण में जातियों का प्रतिनिधित्व**—राजनीतिक निर्णयकारिता में जातीय संतुलन को बनाये रखने के लिए केन्द्र तथा राज्य मंत्रिमंडल में विभिन्न जातियों के प्रतिनिधित्व का ध्यान रखते हुए मंत्रिमंडल के सदस्यों का चयन

किया जाता है तथा उन्हें पद और गोपनीयता की शपथ दिलायी जाती है। यह ध्यान रखा जाता है कि सभी प्रमुख जातियों को मंत्रिमंडल में बराबर का प्रतिनिधित्व मिले। इस प्रकार, स्थानीय शासन से लेकर राज्य एवं केन्द्र स्तर तक समाज के उच्च वर्ग, पिछड़ा वर्ग, हरिजन, आदिवासी, मुसलमान, सिख व ईसाई आदि सभी जातियों को मंत्रिपरिषद् में प्रतिनिधित्व देने का प्रयास किया जाता है। इसका सिर्फ एक ही राजनीतिक मकसद होता है कि इस प्रकार सत्ताधारी दल विभिन्न जातियों के वोटों को अपनी ओर मोड़ने में कामयाबी हासिल करके अपने राजनीतिक उद्देश्य को उपार्जित करने का प्रयास करता है।

8. **राजनीतिक अभिजनों के उदय में जातियों की भूमिका**—समाज को सही नेतृत्व प्रदान करने तथा उसे समुन्नति के पथ पर ले जाने में नेतृत्व की भूमिका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होती है। समाज में समस्याओं के निवारण तथा उसे दिशा बोध कराने के लिए नेतृत्व का जन्म होता है। देश के सामाजिक राजनीतिक ढाँचे में अभिजन वर्ग का आविर्भाव तथा उन्हें पोषित-पल्लवित करने की आधारभूमि समाज है। इसका आधारतत्त्व जाति है और आधार-माध्यम जातीय संघ या संगठन है। **आहूजा, लाल, सिरसीकर, सच्चिदानन्द**, आदि विद्वानों द्वारा भारतीय राजनीतिक अभिजनों का जो अध्ययन किया गया है, उसमें सभी इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि अभिजनों के उदय में समाज की उच्च जातियों के साथ-साथ मध्यम जातियों की भूमिका काफी महत्त्वपूर्ण रही है और वे अपेक्षाकृत असाधारण रूप से लाभान्वित भी हुई हैं। स्वतंत्रता संघर्ष के समय भारत की राजनीति मुख्यतः उच्चवर्गों में सिमटी हुई थी और उन्हें ही राजनीति में केन्द्रीय महत्त्व मिला हुआ था। आजादी के बाद परिस्थितियां बदली, दृष्टिकोण बदला, सभी जातियों में राजनीतिक चेतना का संचार हुआ तथा अपने मौलिक अधिकारों के प्रति सजगता बढ़ी नतीजतन समाज के मध्यम तथा निम्न वर्गों में राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने की अकांक्षा काफी बलवती हुई। मौजूद सामाजिक-राजनीतिक परिवेश की वजह से मध्यम एवं निम्न जातियों के लोगों को राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने की अपार संभावना राजनीतिक स्तर पर प्रदान की गयी। निम्न जातियों के नेताओं के आविर्भाव में संविधान प्रदत्त जातिगत आरक्षण का योगदान उल्लेखनीय रहा। मध्यम जाति के अभिजनों के उदय में जातिगत आधार के साथ शिक्षा का प्रसार एवं उनकी सामाजिक-आर्थिक स्थिति में सुधार भी मुख्य रूप से प्रभावकारी आधार तत्त्व बना। प्रथम आम चुनाव के समय से ही राजनीतिक स्पर्धा का उदय हुआ जिसके आधार माध्यम के रूप में जाति प्रथा जो पहले सिर्फ सांस्कारिक (Ritualistic) एवं पारम्परिक (Traditional) भूमिका का निर्वहन करती थी, एकाएक शहर से लेकर गांवों तथा कस्बों तक में निवास करने वाले लोगों के राजनीतिक व्यवहार को मौलिक रूप से नियमित व निरूपित करने की भूमिका निभाने लगी और यहीं से जातियां राजनीतिक अभिजनों के उदय एवं विकास में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने लगीं। आज के राजनीतिक परिवेश में नेहरू या गांधी की तरह नेताओं की पहचान उनके व्यक्तित्व से नहीं होती है, अपितु उनकी जाति से होती है।

उपर्युक्त प्रसंगों से यह जाहिर होता है कि भारतीय राजनीति के सामाजिक आधारों में जाति सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारक है। राजनीति स्वाभाविक रूप से अपने आप में विभाजन और विग्रह की प्रणाली है और यह हमेशा इसी हेतु सामग्री की तलाश में भी रहती है। लेकिन, इसके साथ-साथ यह भी सत्य है कि राजनीति एकीकरण का औजार भी है जिसके लिए राजनीति के पास अपनी शैली और संगठन का अपना तरीका भी है। जब जाति और राजनीति के समुच्चय कारक और विभाजक कारक दोनों पक्ष अन्योन्यक्रियाएं करते हैं तो कई अवस्थाओं में एकीकरण और विभाजन का नया चेहरा सामने आता है। इस प्रक्रिया को समाज के लौकिकीकरण की संज्ञा दी जा सकती है और वस्तुतः यही प्रक्रिया भारतीय समाज में राजनीति द्वारा लाये गये बदलाव को जानने-समझने या देखने का मुख्य नजरिया भी है।